सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का ४५ वाँ रत्न

नय-कर्णिका

कृतिकार—

उपाध्याय श्री विनयविजय जी

विवेचनकार—

मुनि श्री सुरेशचन्द्र, "शास्त्री" "साहित्यरत्न"

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रकाशक—

सन्मति-ज्ञान-पीठ,

लोहामंडी, आगरा।

प्रथमवार ११००

मूल्य ।=)

मुद्रक—

विजय आर्ट प्रेस,

नौबस्ता, आगरा।

प्रस्तावना

जैन दर्शन और 'नयवाद'

'नयवाद' जैन-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण देन है। जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ का निरूपण तथा विवेचन 'नय' को दृष्टि मे रखकर ही करता है। "जैन-दर्शन में ऐसा कोई भी सूत्र और अर्थ नहीं है, जो नय से रहित हो—

"नत्थि नएहिं विहुणं,
सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि।"
—विशेषावश्यकभाष्य, २२७७

जैन-दर्शन की विचार-धारा के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष—पहलू हैं। इन पक्षों को जैन-दर्शन की मूल भाषा में 'धर्म' कहते हैं। इस दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है—

"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"
— स्याद्वाद-मंजरी

अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को यदि कोइ एक ही धर्म मे सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान समझ बैठे, तो इससे वस्तु का वास्तविक स्वरूप बुद्धि-गत नहीं हो सकता। कोई भी

कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति में सत्यात्मक नहीं हो सकता। सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी ही पड़ती है। साधारण ज्ञान, वस्तु के कुछ धर्मों—पहलुओं तक ही सीमित रहता है। केवलज्ञान की स्थिति में ज्ञान के परिपूर्ण होने पर ही वस्तुओं के अनन्त धर्मों का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव है। दूसरे शब्दों में, केवल-ज्ञान ही वस्तु-स्वरूप का समग्र ज्ञान करा सकता है। इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन-दर्शन मे 'प्रमाण' माना गया है। इसके अतिरिक्त, अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण एवं सापेक्ष है। सापेक्ष स्थिति मे ही वह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति मे नहीं। हाथी को खंभे जैसा बतलाने वाला अन्धा व्यक्ति अपने दृष्टि-बिन्दु से सच्चा है; परन्तु हाथी को रस्से जैसा कहनेवाले दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा से सच्चा नहीं हो सकता। हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सब दृष्टियों की अपेक्षा रहती है। वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में यह अपूर्ण और सापेक्ष ज्ञान ही जैन-दर्शन में 'नय' कहलाता है। और इसी अपेक्षा-दृष्टि के कारण 'नयवाद' का दूसरा नाम 'अपेक्षावाद' भी है।

ध्येय-प्राप्ति का आधार 'नय-ज्ञान'

'नय' के द्वारा ही वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। केवल, वस्तु के किसी एक ही धर्म के द्वारा वस्तु की जानकारी को वस्तु का समग्र ज्ञान समझने की आग्रहपूर्ण

दृष्टि वस्तु का अयथार्थ प्रतिपादन करती है। इसीलिए वह दृष्टि मिथ्या है, अप्रामाणिक है। नय के द्वारा होने वाला वस्तु का ज्ञान ही वास्तव में असन्दिग्ध एवं निर्भ्रान्त ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु को अनेक दृष्टि बिन्दुओं से छूने का प्रयत्न करता है, और अपने से अतिरिक्त दृष्टि-कोण का प्रतिषेध नहीं करता। सन्देह और भ्रान्ति ज्ञान के दोष माने गये हैं। सदोष ज्ञान से यथार्थ प्रवृत्ति की आशा नहीं की जा सकती और यथार्थ प्रवृत्ति के अभाव मे ध्येय-प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे ध्येय-प्राप्ति के लिए यथार्थ प्रवृत्ति अपेक्षित है, उसी प्रकार यथार्थ प्रवृत्ति के लिए असन्दिग्ध एवं अभ्रान्त ज्ञान अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि यथार्थ-प्रवृत्ति तथा ध्येय-सिद्धि का मूलाधार यथार्थ ज्ञान ही है।

भारत के सब दर्शनकारों ने पदार्थ-विज्ञान और आचार शास्त्र के साथ-साथ ज्ञान-प्रक्रिया भी बतलायी है। पदार्थ-विज्ञान और आचार-शास्त्र की सत्यता ज्ञान-प्रक्रिया की सत्यता पर आधारित है—यह एक निश्चित तथ्य है। इतर दार्शनिकों द्वारा प्रदर्शित ज्ञान-प्रक्रियाएँ एकान्त दृष्टि पर आश्रित हैं, एक ही नय पर अवलम्बित हैं और एकान्त होने के कारण ही वे मिथ्या हैं—

"एगंतं होइ मिच्छत्तं।"

वस्तु-स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन न करने पर भी अन्य दर्शनों की वे एकान्त दृष्टियाँ यथार्थता का दावा करती हैं और इसका दुष्परिणाम होता है—विवाद, कलह और संघर्ष। अस्मिता के आवेश में 'मैं-तू' का वातावरण पैदा हो जाता है।

भारत के समस्त दर्शनों में जैन-दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो यथार्थ रूप मे ज्ञान-प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है और उसकी यथार्थता का मूल है 'नयवाद।' वह वस्तु-स्वरूप को अनेक दृष्टि- बिन्दुओं से निरखता-परखता है, गहराई में उतर कर वस्तु-तत्त्व का अनेक पहलुओं से विश्लेषण करता है। उसका कहना है कि जब तक विचार-शैली मे 'नयवाद' को प्रश्रय न दिया जाय, तब तक दृष्टि से अज्ञान का जाला साफ नहीं होता और जब तक अज्ञान का जाला साफ न हो जाय, तब तक आचार-पालन के नाम पर किया गया घोर-से-घोर श्रम भी अज्ञान-कष्ट बनकर रह जाता है, उससे ध्येय-प्राप्ति की ओर आत्म-विकास की दिशा में एक कदम भी नहीं बढ़ा जा सकता। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् की स्तुति करते हुए चुनौतीपूर्ण स्वर में कहा है—"भगवन्! अन्य साधक चाहे हजारों वर्षों तक तप करें, अथवा युग-युग तक योग-साधना करें, परन्तु जब तक वे नय से अनुप्राणित आपके मार्ग का अनुसरण न करें, तब तक वे मोक्ष की इच्छा करते हुए भी मोक्ष नहीं पा सकते—

"परःसहस्राः शरदस्तपांसि,

युगान्तरं योगमुपासतां वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ।।
—अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिं०

'नयवाद' कानेपन को मिटाता है

'नयवाद' कहता है कि मनुष्य को दो आँखें मिली हैं, अतः वह एक से अपना, तो दूसरी से विरोधियों का सत्य देखे। जितनी भी वचन-पद्धतियाँ हैं, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियों में से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि "चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है।" दूसरा व्यक्ति कहता है "चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है।" तीसरा बोलता है "चन्द्रमा उस उड़ते हुए पक्षी के दोनों पंखों के बीच में से दीख रहा है।" चौथा व्यक्ति संकेत करके कहता है—"चन्द्रमा ठीक मेरी अंगुली के सामने नजर आ रहा है।" इन सब व्यक्तियों का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है, और वे अपनी शुद्ध नीयत से ही अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे हैं। पर, एक-दूसरे के कथन मे परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है।

इसी प्रकार सभी सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारकों का एक ही उद्देश्य है—साधकों को सत्य के दर्शन कराना।

सब अपने-अपने दृष्टि-कोण से सत्य की व्याख्या कर रहे हैं। परन्तु, उनके कथन में अत्यन्त भेद है। 'नयवाद' की सतेज आँख से ही उन तथ्यांशों के प्रकाश को देखा जा सकता है।

'नयवाद' हमें सत्य-दर्शन के लिए आँखें खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करता है। उसका कहना है कि सारे संसार को तुम अपनी ही कल्पना की आँखों से मत देखो-परखो। दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए। सत्य वही और उतना ही नहीं है कि जो-जितना आप देख पाये हैं। फिर भी, यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का अलग-अलग वर्णन करने वाले वे छहों व्यक्ति शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी बस इसलिए अधूरे हों कि एक ने हाथी को देखा था सूंड की तरफ से, दूसरे ने देखा था पूंछ की तरफ से, तीसरे ने पेट छूकर, चौथे ने कान पकड़ कर, पाँचवे ने दाँतों की ओर से और छठे ने पाँव की तरफ से। इस कानेपन को दूर कीजिए। क्योंकि काना व्यक्ति एक ओर के ही सत्य को देख सकता है। सत्य का दूसरा पहलू उसकी आँख से लुप्त ही रहता है।

एक पुरानी लोक-कथा है। किसी माँ का काना बेटा हरद्वार गया। लौटा तो माँ ने पूछा—'हरद्वार में तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे ?" गाँव के भोले बेटे ने तब तक कहीं

बाजार देखा नहीं था। बोला—"माँ, मैंने नई बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है।"

माँ हरद्वार हो आई थी। बाजार घूमने की बात सुनकर वह घूम गई और चौंककर उसने पूछा—"कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार?"

बेटे ने नये सिरे से आश्चर्य में डूबकर कहा—"माँ, मैं हर की पैड़ी नहाने गया, तो देखा बाजार इधर था और नहाकर लौटा, तो देखा बाजार उधर हो गया।"

दुःख पाकर भी माँ हँस पड़ी और भोले बेटे को छाती से लगा लिया।

अब देखिये। बाजार तो दोनों ओर था। पर कानेपन के कारण वह एक ओर ही देख सका। ऐसे ही वे विचारक, जो एकान्त के झमेले में पड़कर अपनी एक दृष्टि—आँख से वस्तु-स्वरूप के सत्य को देखने का प्रयत्न करते हैं। वस्तु के एक पहलू की ओर ही देख पाते हैं। पर सत्य होता है दूसरी ओर भी। किन्तु कानेपन के कारण दूसरी ओर का सत्य उन्हें दीख नहीं पड़ता। एकान्त का पक्षान्ध भला प्रकाश के दर्शन कैसे कर सकता है? 'नयवाद' मनुष्य की दृष्टि के इस कानेपन को मिटाकर वस्तु-स्वरूप को अनेक पहलुओं से देखने की जीवित प्रेरणा प्रदान करता है। अपने घर के आँगन में खड़ा व्यक्ति अपने ऊपर प्रकाश देखता है, छत पर चढ़कर देखे, तो सब जगह प्रकाश ही प्रकाश—यह 'नयवाद' का जीवंत आदर्श है।

'ही' और 'भी' का अन्तर

'नयवाद' की यह सर्वोपरि विशेपता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकड़कर यह नहीं कहता कि 'यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है।" वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है ; जिसका अर्थ यह होता है कि—"इस अपेक्षा से वस्तु का स्वरूप ऐसा 'भी' है।" 'ही' नयाभास है तो 'भी' नयवाद। 'ही' विपमता का वीज वपन करती है, तो 'भी' उस वैपम्य के वीज का उन्मूलन करके समता के मधुर वातावरण का सृजन करती है। 'ही' में वस्तु स्वरूप के दूसरे सत्पक्षों का इनकार है, तो 'भी' में इतर सब सत्पक्षों का स्वीकार है। 'ही' से सत्य का द्वार वन्द हो जाता है, तो 'भी' में सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते हैं।

जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं, वे वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध मे एक नय को सर्वथा प्रधानता देकर ही कुछ प्रतिपादन करते है। वस्तु-स्वरूप पर उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणों से विचार करने की कला उनके पास नहीं होती। यही कारण है कि उनका दृष्टि-कोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विरोधाय' हो जाता है। इसके विपरीत, जैन-दर्शन खुले मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात्

करने का दूरगामी प्रयत्न करता है। इसलिए उसका दृष्टि-कोण सत्य का दृष्टि-कोण है,शान्ति का दृष्टि-कोण है,जन-हित का दृष्टि-कोण है। उदाहरण के लिए आत्मा को ही ले लीजिए। साख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त) नित्य ही मानता है और कहता है कि 'आत्मा सर्वथा नित्य ही है।' बौद्ध-दर्शन का कहना है कि' आत्मा अनित्य–क्षणिक ही है।'आपस में दोनों का विरोध है, दोनों का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है। पर, जैन-दर्शन एक करवट कभी नहीं पड़ता। उसका कहना है कि "यदि आत्मा एकान्तत. नित्य ही हो, तो उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप मे रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पड़ता है? नारकी, देवता, पशु और मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है आत्मा का? कूटस्थ नित्य में तो किसी भी प्रकार का पर्याय-परिवर्तन नहीं होना चाहिए। पर, होता है,यह स्पष्ट है। अतः आत्मा सर्वथा नित्य ही है–यह कथन भ्रान्त है। और यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है, तो "यह वस्तु वही है, जो मैंने पहले देखी थी"–यह एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। पर, प्रत्यभिज्ञान तो अबाध रूप से होता है। इस-लिए आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है। जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप मे हम वस्तु-स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकते। हमें तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओं से सत्य के प्रकाश का का स्वागत

करना चाहिए। और इस सत्यात्मक दृष्टि-कोण से 'आत्मा' नित्य भी है और अनित्य भी, है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। बस 'ही' के प्रयोग से परस्पर मे जो विरोध बढ़ते हैं 'भी' से वे सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते है। 'ही' से संघर्ष कैसे उत्पन्न होता है, इस विषय मे एक बड़ा सुन्दर लघु कथानक है।

"दो आदमी नाच देखने गये। एक अन्धा और दूसरा बहरा। रात-भर तमाशा देखकर सुबह दोनों अपने घर वापिस लौट रहे थे। रास्ते में एक आदमी पूछ बैठा—"क्यों भई, नाच कैसा था?" अन्धे ने कहा—"आज केवल गाना ही हुआ है, नाच कल होगा।" बहरे ने कहा—"आज तो सिर्फ नाच ही हुआ है, गाना कल होगा।" दोनों लगे अपनी-अपनी तानने। खींच-तान के साथ कहा-सुनी हो गई और मार-पीट तक की नौबत आ गयी।"

बस, 'नयवाद' यही कहता है कि एक ही दृष्टि-कोण के अँधे, बहरे मत बनो। दूसरों की भी सुनो और दूसरे के दृष्टि-बिन्दु को भी परखो। तमाशे में हुई थी दोनों चीजें—नाच भी और गाना भी। पर, अन्धा नाच न देख सका और बहरा गाना न सुन सका। आज गाना 'ही' हुआ है अथवा आज नाच 'ही' हुआ है-इस 'ही' से ही दोनों में लड़ाई ठनगई। नय-वाद परस्पर मे संघर्ष पैदा करने वाली 'ही' का उन्मूलन

करके उसके स्थान मे 'भी' का प्रयोग करने के लिए कहता है।

'नयवाद' की उपयोगिता

यह जो आज परिवारों मे लड़ाई-झगड़े हैं, सार्वजनिक जीवन मे क्रूरता और कल्मष है, धार्मिक क्षेत्र मे 'मैं-तू' का बोल बाला है, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे तना तनी है, वह सब 'नयवाद' के दृष्टि-कोण को न समझने के कारण ही है। दुनिया का यह एक रिवाज-सा बन गया है कि वह अपनी आँखों से अपनी ही कल्पना के अनुसार सब-कुछ देखना चाहती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब जगह मेरी ही चले। समूचा समाज मेरे इशारे पर नाचे और जब यह नहीं होता, तो लोग आपस में एक-दूसरे के दोष निकालते हैं और टीका-टिप्पणी के रूप मे एक-दूसरे पर छींटाकशी करते है। इससे 'मैं-तू' का वातावरण गरम हो जाता है। राजनीति के क्षेत्र को ही लीजिए। वहाँ संसार वादों के झमेले में पडकर अपनी बात को खींच रहा है। कोई कहता है 'समाजवाद ही विश्व की समस्याओं को सुलझा सकता है।" दूसरा कहता है "साम्यवाद से ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है।" तीसरा पुकार रहा है—"पूंजीवाद की छत्रछाया में ही ससार सुख की सांस ले सकता है।" कोई किसी वाद से और किसी वाद से विश्व-शांति की रट लगा रहा है। इस खींचतान से ही ईर्ष्या, कलह, संघर्ष और द्वन्द्व राजनीतिज्ञ

मच पर अपनी छाती तान कर खडे हो जाते हैं और संसार अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है।

यदि ये सब विचारक एक मच पर बैठकर सहिष्णुता और धैर्य के साथ एक दूसरे की बात सुन लें, एक-दूसरे के दृष्टि-कोण को समझ लें और अपनी ही दृष्टि को दूसरो पर बलात्कारपूर्वक थोपने का यत्न न करें, तो फिर इनमे परस्पर मेल न हो जाय, समझौते और समन्वय का द्वार न खुल जाय। सर्वोदय की पगडंडी साफ न हो जाय! और यही तो सिखाता है जैन-दर्शन का 'नयवाद।' जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है; उसी प्रकार 'नयवाद' का आलोक मन-मन्दिर मे आते ही कलह, द्वेष, कलुषित विचार, पारस्परिक तनातनी, संकीर्णता एवं संघर्ष बात-की बात में शान्त हो जाते हैं और शान्ति का एक मधुर एवं मैत्री-पूर्ण वातावरण बनता चला जाता है। पारस्परिक विरोध एवं संघर्ष के जहर को निकाल कर अविरोध, शान्ति तथा समन्वय के इस अमृत-वर्षण में ही 'नयवाद' की उपयोगिता निहित है।

'नय-कर्णिका' और प्रस्तुत प्रयास

संसार की जितनी भी विचार-सरणियाँ और वचन-प्रकार हैं, वे सब नय की कोटि में आ जाते हैं—यह जैन-दर्शन की घोषणा है। इस दृष्टि से नयों की कोई गिनती नहीं है, यानी नय अनन्त है, गणनातीत हैं। अल्प मति

मनुष्यों के लिए उन गणनातीत विचार-सरणियों को हृदयंगम करना नितान्त असम्भव है, अतः जैनाचार्यों ने गहरे चिन्तन-मनन के बाद उस विराट विचार-समूह का सात वर्गों में समावेश करके गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है। इन सात विचार-वर्गों का नाम ही सात नय हैं, जिनके नाम हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवभूत । विचार-मीमांसा का यह एक ऐसा विशिष्ट एवं सर्वाङ्ग-पूर्ण वर्गीकरण है कि संसार का कोई भी वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक व्यावहारिक तथा पारमार्थिक विचार इन सात नयों की सीमा से बाहर नहीं रह पाता।

जैन-जगती के ज्योतिर्धर विद्वान् उपाध्याय श्रीविनयविजय जी ने अपनी इस 'नयकर्णिका' नामक लघु कृति मे जैन-संस्कृति के अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति के रूप मे उपर्युक्त सात नयों के स्वरूप को अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और कलात्मक पद्धति से समझाने का महार्घ प्रयास किया है। संक्षेप में नयों का परिज्ञान करने के लिए उपाध्यायश्री जी की यह अनुपम कृति नितान्त उपयोगी है—यह अधिकार की भाषा में कहा जा सकता है। अत्यन्त संक्षिप्त और भगवान् की स्तुति-रूप होने से यह कृति कंठाग्र होने में अत्यन्त सुगम है—यह तथ्य भी सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है।

अलवर-यात्रा के प्रसंग से, एकबार पण्डितरत्न श्रीप्रेमचन्द्र जी महाराज और श्री अखिलेशचन्द्र जी महाराज ने एक बार जिक्र किया कि "नय-कर्णिका' में विनयविजय जी ने सात नयों का अत्यन्त सरल पद्धति से बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। यदि इस कृति का सविवेचन हिन्दी रूपान्तर हो जाय, तो नय-ज्ञान के पिपासु हिन्दी पाठकों का पर्याप्त उपकार हो सकता है। उनके इस प्रेरणास्पद कथन से कई बार 'नय-कर्णिका' पर कुछ लिखने का विचार मन में आया और गया, और अन्ततः अन्तर मे पड़े उस प्रेरणात्मक बीज ने अंकुर का रूप ले ही लिया, जो पाठकों के सामने प्रस्तुत है। मूल कृति के अनुसार विवेचन मे सरल और संक्षिप्त दृष्टि-कोण को ही ध्यान में रखा गया है। विवेचन में, श्री मोहनलाल मेहता एम० ए०, का "जैन-दर्शन में नयवाद" नामक निबन्ध काफी सहायक रहा है, अतः उनके प्रति आभार-प्रदर्शन करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

आशा है, हमारा यह लघु प्रयास पाठकों के अन्तर्मन मे नय-ज्ञान के प्रति जिज्ञासात्मक भावना की तीव्र लहर पैदा कर सकेगा।

जैन-भवन
लोहामडी,
आगरा।
६-५-५५

—सुरेश मुनि

ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय

'नय-कर्णिका' के रचयिता जैन-जगत् के प्रख्यात विद्वान् श्री विनय-विजय जी हैं। उनके जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी का अभाव है। उसका कारण यह है कि न तो स्वयं उन्होंने अपने जीवन पर विशेष प्रकाश डाला और न उनके समकालीन किसी अन्य विद्वान् ने ही उनके विषय मे कुछ लिखा। उनका जन्म कब और कहाँ हुआ, किस प्रकार उनके अन्तर्हृदय मे त्याग-वैराग्य की ज्योति जागी—इस सम्बन्ध मे कोई तथ्यपूर्ण उल्लेख नहीं मिलता। 'लोक-प्रकाश' के प्रत्येक सर्ग के अन्त मे उन्होने एक ही प्रकार का श्लोक दिया है, जिसमें उन्होंने अपनी माता का नाम राजश्री [राजबाई], पिता का नाम तेजपाल बतलाया है, और अपने-आपको उपाध्याय श्री कीर्ति-विजय जी का शिष्य होने का उल्लेख किया है—

"विश्वाश्चर्यदकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकन्द्रान्तसद्,
राजश्रीतनयोऽतनिष्ठ विनयः श्रीतेजपालात्मजः।
काव्यं यत्किल तत्र निश्चितजगत्तत्त्वे प्रदीपोपमे,
सम्पूर्णः खलु सप्तविंशतितमः सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥"

राजबाई और तेजपाल—ये दोनों नाम प्राय. वणिक् जाति के अतिरिक्त अन्य जाति में नहीं मिलते। अतः जाति की दृष्टि से श्री विनय विजय जी वणिक् थे, ऐसा अनुमान होता है।

श्री विनयविजय जी, जैन-दर्शन के चोटी के विद्वान् उपाध्याय श्री यशोविजय जी के समकालीन थे। अनेक कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं की अग्नि-परीक्षा में गुजर कर इन दोनों महानुभावोंने साथ-साथ संस्कृत-विद्या के केन्द्र काशी मे जाकर सब दर्शनों का गहरा अध्ययन एवं मन्थन किया था। सन् १७३८ में रान्देर चातुर्मास मे श्री विनयविजय जी का देहावसान होने के बाद उनकी गुजराती कृति 'श्री पाल-रास' के उत्तरार्ध की पूर्ति भी श्री यशोविजयजी ने ही की थी।

उनकी कृतियों, ग्रन्थों और रचनाओं को दृष्टि में रखते हुए यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि श्री विनय-विजय जी अपने समय के संस्कृत, प्राकृत तथा इतर भाषा के एक प्रकाण्ड पण्डित, धुरन्धर विद्वान्, जैन संस्कृति के मर्मी विचारक और एक सफल कवि-कलाकार थे। लोक-प्रकाश, हैमलघुप्रक्रिया, कल्पसूत्र की सुखबोधिका टीका, नय-कर्णिका और शान्तसुधारस भावना उनकी संस्कृत रचनाएँ हैं, जिनका जैन-वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके अतिरिक्त, गुजराती भाषा मे उनकी कृतियाँ अधिक है। जिनमे श्री पालरास, श्री भगवती सूत्र नी सज्झाय, षडावश्यकनु स्तवन, विनय-विलास, अध्यात्म-गीता, जिन-चोवीसी मुख्य हैं।
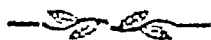
विषय-सूची

श्री विनयविजय जी, जैन-दर्शन
उपाध्याय श्री यशोविजय जी के
कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं की
इन दोनों महानुभावोंने साथ-साथ स
मे जाकर सब दर्शनों का गहरा
था। सन् १७३८ मे रान्देर चातुर्मा
का देहावसान होने के बाद उनक
रास' के उत्तरार्ध की पूर्ति भी श्री

उनकी कृतियों, ग्रन्थों और रच
हुए यह अधिकारपूर्वक कहा जा
विजय जी अपने समय के संस्कृत
के एक प्रकाण्ड पण्डित, धुरन्धर
मर्मी विचारक और एक सफल
प्रकाश, हैमलघुप्रक्रिया, कल्पसू
नय-कर्णिका और शान्तसुधार
रचनाएँ हैं, जिनका जैन-वाङ्मय
इनके अतिरिक्त, गुजराती भाषा
है। जिनमे श्री पालरास, श्री
षडावश्यकनु स्तवन, विनय-वि
चौवीसी मुख्य है।

नय-कर्णिका

मंगलाचरण और विषय—

वर्धमानं स्तुमः सर्वनयनद्यर्णवागमम् ।
संक्षेपतस्तदुन्नीत — नयभेदानुवादत ॥१॥

अर्थ

सर्वनयरूपी नदियों के लिए जिनका प्रवचन समुद्र के समान गम्भीर है, उनके द्वारा प्ररूपित नय-भेदों को अनुवाद के रूप मे दुहराकर हम श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करते हैं ।

विवेचन

मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है । इसलिये तीर्थंकरों और जैन-धर्म के महान् आचार्यों ने उसकी प्राप्ति के साधनों का तात्त्विक रूप मे निर्देश किया है । मोक्ष-प्राप्ति के उन्होंने मुख्यतः तीन साधन बतलाए हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र । जैन-दर्शन के सर्वप्रथम सूत्रकार आचार्य उमास्वाति का सूत्र है—

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"

—तत्त्वार्थसूत्र १-१

सम्यग्दर्श का अर्थ है—तत्त्वार्थ का श्रद्धान। तत्त्व नौ है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन तत्त्वों का यथार्थ परिज्ञान हुए बिना मुमुक्षु साधक मोक्ष-मार्ग मे अबाध गति नहीं कर सकता। अतः मोक्ष के जिज्ञासु के लिए इन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान परम आवश्यक है। तत्त्व-ज्ञान के अमोघ उपाय हैं—प्रमाण और नय। जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

"प्रमाणनयैरधिगमः"

—तत्त्वार्थ सूत्र १-६

—प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्वों का परिज्ञान होता है।

श्रुत के दो उपयोग होते हैं—प्रमाण और नय। प्रमाण को सकलादेश और नय को विकलादेश भी कहते हैं। जैन-दर्शन की विचारधारा के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है—

"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"

—स्याद्वादमंजरी

नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म (अंश) का बोध कराता है और प्रमाण अनेक धर्मों का। प्रमाण में पदार्थ के

समस्त धर्मों की विवक्षा होती है, नय में एक धर्म के सिवाय अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती। नय-ज्ञान इसीलिए सम्यक्—सच्चा माना जाता है कि वह अपने विवक्षित धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का प्रतिषेध नहीं करता, अपितु उन धर्मों के प्रति वह उदासीन रहता है। शेष धर्म से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन न होने के कारण वह उन धर्मों का न तो विधान ही करता है और न प्रतिषेध ही। दूसरे शब्दों मे यों भी कहा जा सकता है कि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से। इस प्रकार प्रमाण और नय द्वारा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

नय-कर्णिका में उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति के साथ-साथ सात नयों का संक्षेप में सरल पद्धति से प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत कारिका मे उन्होंने मंगलाचरण किया है और साथ ही ग्रन्थ के विषय का निर्देश करते हुए यह भी बतला दिया है कि इस ग्रंथ मे हम संक्षेप मे सात नयों की व्याख्या करेंगे।

—०:—

नय के भेद—

नैगमः संग्रहश्चैव, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ चेति नयाःस्मृताः॥२॥

अर्थ

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये सात नय कहे गये हैं।

विवेचन

प्रस्तुत कारिका में नयों का नाम और संख्या का निर्देश किया गया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि "वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं नय के भी उतने ही भेद है। वे पर-सिद्धान्त रूप हैं, और वे सब मिलकर जिन शासन रूप हैं—

जावंतो वयणपहा, तावंतो वा नया विसद्दाओ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे॥

—विशेपावश्यकभाष्य २२६५

इस कथन के आधार पर नय के अनन्त प्रकार हो सकते है। इन अनन्त भेदों का प्रतिपादन करना हमारी शक्ति की

सीमा से परे की बात है। स्थूल रूप से नय के कितने भेद हो सकते हैं—जैन-दर्शन के महान् आचार्यों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है।

वैसे तो नय-भेदों की संख्या के विषय मे कोई एक निश्चित परम्परा नहीं है। जैन-दर्शन के इतिहास पर दृष्टि-पात करने पर इस विषय मे हमे आचार्यों की तीन परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। एक परम्परा तो सीधे रूप मे नय के सात भेद मानकर चलती है। ये सात भेद है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। जैन-आगम और दिगम्बर ग्रन्थ इस परम्परा के अनुयायी है। दूसरी परम्परा नय के छह भेद स्वीकार करती है। उसकी दृष्टि में नैगम कोई स्वतन्त्र नय नहीं है। इस परम्परा के संस्थापक हैं जैन-जगत् के ज्योतिर्धर विद्वान् आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। तीसरी परम्परा तत्त्वार्थ-सूत्र और उसके भाष्य की है। इस परम्परा के अनुसार मूल में नय के पॉच भेद हैं,-नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से प्रथम नैगम नय के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी—ये दो भेद हैं तथा अन्तिम शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन भेद हैं।

इन तीन परम्पराओं में से सात भेदों वाली परम्परा

-अधिक प्रसिद्ध है, अत. नयकर्णिकाकार ने भी उसी आगम-परम्परा का अनुसरण करते हुए मूल में ही नय के सात भेद मानकर इस कारिका में उनकी संख्या और उनके नाम का निर्देश किया है। नय का अर्थ है विचारों की मीमांसा अथवा विचारों का वर्गीकरण। संसार का ऐसा कोई भी वैयक्तिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक विचार नहीं, जो इन सात नयों की सीमा से बाहर हो। संसार की यावन्मात्र विचार-सरणियों का समावेश इन सात नयों में ही हो जाता है, अतः आचार्यों ने इन सात नयों के अतिरिक्त आठवाँ कोई नय नहीं माना है।

—:卐:—

वस्तु का उभयात्मक रूप—

अर्थाः सर्वेऽपि सामान्य, विशेषोभयात्मकाः ।
सामान्यं तत्र जात्यादि, विशेषाश्च विभेदकाः ॥३॥

अर्थ

जीव, अजीव आदि सब पदार्थ सामान्य एवं विशेष—उभयधर्मात्मक हैं। उन दोनों मे जाति आदि, पदार्थ का सामान्य धर्म है और जाति में भी भेद करने वाले विशेष धर्म है।

विवेचन

विश्व के समस्त पदार्थों में सामान्य और विशेष—ये दो धर्म होते है। जैसे रुपये के दो बाजू होते है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु के भी दो पहलू होते हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। जैसे रुपये का एक बाजू दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकता, ऐसे ही पदार्थ का सामान्य धर्म विशेष को छोड़ कर नहीं रह सकता, और विशेष सामान्य के बिना नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप है। एक रूप मानने पर दोनों का ही अभाव हो जाता है। इसलिए आचार्यों ने पदार्थ को सामान्यविशेषात्मक

उभयरूप माना है—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।

—परीक्षामुख ४।१

अर्थात्—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है।

वस्तु में जाति सामान्य धर्म है और भिन्न-भिन्न व्यक्ति विशेष धर्म हैं। उदाहरण के लिये किसी एक मेले अथवा उत्सव के दृश्य को लीजिए। उत्सव में हजारों मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। उन सब मनुष्यों में 'मनुष्यत्व' एक सामान्य धर्म है, जो जाति रूप है और जिसके बल पर सब मनुष्यों को एक रूप मे संकलित कर लिया जाता है कि 'ये सब मनुष्य हैं।' परन्तु, प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत गुणों के आधार पर अलग-अलग पहचाना जा सकता है। उन मनुष्यों मे कोई पंजाबी है, कोई गुजराती है, कोई बंगाली है और कोई महाराष्ट्रीय है। किसी का कद ऊँचा है, किसी का ठिगना। किसी का वर्ण काला है तो कोई एक दम गौरवर्ण है।

वस्तु के सामान्य अंश के द्वारा उस वस्तु की दूसरी वस्तु से समानता रहती है और विशेष अंश के द्वारा अन्य वस्तुओं से उसका भेद बना रहता है। सामान्य धर्म उस

वस्तु को दूसरी वस्तुओं से मिलाता है और विशेष धर्म उसे अन्य वस्तुओं से अलग करता है। इसलिए भाष्यकार कह रहे हैं कि "वस्तुओं का समान पर्याय सामान्य है और विसदृश—असमान पर्याय विशेष है—

"तम्हा वत्थूणं चिय जो सरिसो पज्जओ स सामन्नं।
जो विसरिसो विसेसो स मओऽणत्थंतरं तत्तो ॥"

—विशेषा० २२०२

—❀❀—

सामान्य और विशेष का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

ऐक्यबुद्धिर्घटशते, भवेत्सामान्यधर्मतः ।
विशेषाच्च निजं निजं, लक्षयन्ति घटं जनाः ॥४॥

अर्थ

सामान्य धर्म से सौ घड़ों में एकाकार बुद्धि होती है, और विशेष धर्म के द्वारा सब मनुष्य अपने-अपने घड़े को अलग-अलग पहचान लेते हैं।

विवेचन

प्रस्तुत कारिका मे उदाहरण द्वारा सामान्य और विशेष दोनों का अलग-अलग कार्य निर्देश किया गया है। उदाहरण में कहा गया है कि एक ही स्थान पर रखे हुए सौ घड़ों मे घटत्वरूप सामान्य धर्म के आधार से 'यह भी घड़ा' 'यह भी घड़ा' —इस प्रकार एकाकार प्रतीति होती है और काला, पीला, लाल, छोटा, बडा आदि विशेष धर्मों के द्वारा उन घड़ों मे से प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने घडे को अलग से जान-पहचान लेता है, 'यह लाल घड़ा मेरा' 'यह पीला घड़ा मेरा'—इस तरह पृथक्करण कर लेता है। विशेष धर्म से होने वाली इस पृथक्करण की नीति के कारण किसी भी व्यक्ति को अपना घड़ा पहचानने मे कोई भ्रान्ति नहीं होती।
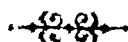
नैगम नय—

नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम् ।

निर्विशेषं न सामान्यं, विशेषोऽपि न तद्विना॥५॥

अर्थ

नैगम नय वस्तु को उभयरूप— सामान्य-विशेषात्मक मानता है। कारण, विशेष के विना सामान्य नहीं रहता और सामान्य के विना विशेष नहीं रहता।

विवेचन

"न एको गमो = विकल्पो यस्येति नैगमः"—इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिसका सामान्य अथवा विशेष कोई एक विकल्प नहीं होता, प्रत्युत दोनों विकल्प होते हैं, वह नैगम नय है।

णेगाइं माणाइं, सामन्नोभय-विसेसनाणाइं ।

जं तेहिं मिणइ तो णेगमो णओ णेगमाणोत्ति ॥

—विशेषाव० २१६८

अर्थात् सामान्य और विशेष उभय-ज्ञान-रूप अनेक प्रमाणों के द्वारा जो वस्तु को स्वीकार करता है, वह नैगम नय है।

प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं। नैगम नय सामान्य तथा विशेष दोनों को ग्रहण करता है। विशेषता इतनी ही है कि किसी समय हमारी दृष्टि सामान्य धर्म की ओर होती है और किसी समय विशेष की ओर। जिस समय हमारी विवक्षा सामान्य की ओर होती है, उस समय विशेष गौण हो जाता है और जिस समय हमारा प्रयोजन विशेष से होता है, उस समय सामान्य गौण हो जाता है। सामान्य और विशेष का गौण-प्रधानभाव से ग्रहण करना नैगम नय है। दूसरे रूप में यों भी कहा जा सकता है कि सामान्य का ग्रहण करते समय विशेष को गौण समझना और सामान्य को प्रधान समझना तथा विशेष का ग्रहण करते समय सामान्य को गौण समझना और विशेष को मुख्य समझना नैगम नय है।

सामान्य और विशेष के ग्रहणकाल में इस गौण-प्रधान-भाव की दृष्टि के कारण ही नैगम नय विकलादेश (नय) कहलाता है। सकलादेश (प्रमाण) में यह गौण प्रधान भाव की दृष्टि नहीं होती, जबकि नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करते समय उनकी गौणता और प्रधानता पर ही टिका हुआ है। उदाहरण के तौर पर 'यह चैतन्य-वान् जीव मनुष्य है'—इस वाक्य में 'चैतन्य' जीव का

सामान्य धर्म है और 'मनुष्य' जीव की विशेष पर्याय है। अत. चैतन्यरूप मे सामान्य और मनुष्य रूप में विशेष धर्म स्वीकार कर लिया गया है। दूसरा उदाहरण लीजिए। 'यह घटत्वजातियुक्त रक्त घट है'—इस वाक्य मे घट मे सामान्य धर्म घटत्व है, और विशेष धर्म रक्त वर्ण है। इस-लिए घटत्व रूप मे सामान्य धर्म और रक्त-रूप मे विशेष धर्म होने से दोनों धर्म स्वीकृत हो गये। पर रहेगा दोनों के ग्रहण मे गौण-प्रधान-भाव।

भाष्यकार ने नैगम का दूसरा अर्थ भी किया है। उनके कथन का आशय यह है कि—"लोकार्थ = लोकरूढ़ि के बोधक पदार्थ निगम कहलाते है, उन निगमों में जो कुशल है, वह नैगम नय है। अथवा जिसके अनेक गम— जानने के मार्ग हैं, वह नैगमनय कहलाता है —

लोगत्थ-निबोहा वा निगमा, तेसु कुसलो भवो वा यं।
अहवा जं नेगगमोऽणेगपहा णेगमा तेणं॥

—विशेषावश्यक भाष्य; २१८७

लोकार्थ—लोकरूढ़ि अनेक तरह की [होती है, अतः उनसे उद्भूत नय भी अनेक तरह का हो जाता है। उदा-हरण के लिए कुल्हाडी हाथ मे लेकर जंगल की ओर जाते

हुए व्यक्ति से कोई दूसरा व्यक्ति पूछे कि—'कहाँ जा रहे हो ?' जाने वाला व्यक्ति उत्तर देता है—'मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ।' वह व्यक्ति वस्तुतः लकड़ी काटने के लिए जा रहा है, प्रस्थ (कुल्हाड़ी का हाथा) तो बाद में बनाया। जायगा लोक-रूढ़ि के कारण पूछने वाला उस व्यक्ति के आशय को झट से समझ जाता है।

युद्ध के समय जब कोई राष्ट्र जीतता जाता है, तो लोग उनकी जन्मभूमि को ही लड़ने वाली समझकर कह दिया करते हैं कि 'चीन जीत रहा है।' कोई तांगे वाला जा रहा हो, तो बुलाने वाला उसे आवाज देता है—'ओ तांगे, ओ तांगे !' कोई प्रान्त अथवा स्थान जब विद्या के क्षेत्र मे विकास करता है, तो लोग कह देते हैं—'जयपुर विद्या में आगे बढ़ रहा है !' ऐसे उदाहरणों या वाक्यों से सुनने वाला चट से कहने वाले का आशय समझ जाता है, क्योंकि ऐसा बोलने की एक लोक-रूढ़ि है। इस प्रकार लोक-रूढ़ियों से संस्कारों के कारण जो भी विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगम नय की कोटि मे आ जाते हैं।

संग्रह नय—

संग्रहो मन्यते वस्तु, सामान्यात्मकमेव हि ।

सामान्य-व्यतिरिक्तोऽस्ति, न विशेषः खपुष्पवत्॥६॥

अर्थ

संग्रहनय वस्तु को केवल सामान्यात्मक ही मानता है, क्योंकि सामान्य से अलग विशेष आकाश के फूल की तरह कोई अस्तित्व नहीं रखता ।

विवेचन

पहले कहा जा चुका है कि जैन-दर्शन की दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। इन दोनों धर्मों में से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति उपेक्षाभाव रखना संग्रहनय है। 'संगृह्णातीति संग्रहः'– इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो विचार किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर पदार्थों का संग्रह करता है, वह संग्रह-नय कहा जाता है।

संग्रहनय के दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। पर संग्रह में सब पदार्थों का एकत्व अभीष्ट होता है। जीव, अजीव आदि जितने भी भेद हैं, उन सबका सत्ता में समावेश हो

जाता है। अपर सग्रह द्रव्यत्वादि अपर सामान्यों का ग्रहण करता है। सत्ता सामान्य—जो कि परसामान्य या महासामान्य है—उसके सामान्यरूप अवान्तर भेदों का ग्रहण करना अपर संग्रह का कार्य है। इस तरह सामान्य के भी दो प्रकार हुए—पर और अपर। पर सामान्य सत्ता सामान्य को कहते हैं, जो पदार्थ मे रहता है। अपर सामान्य पर सामान्य के द्रव्य, गुण आदि भेदों मे रहता है। द्रव्य में रहने वाली सत्ता पर सामान्य है और द्रव्य मे रहने वाला द्रव्यत्व अपर सामान्य है। इसी तरह गुण मे रहने वाली सत्ता पर सामान्य है और गुणत्व अपर सामान्य है। पर संग्रह और अपर संग्रह दोनों मिलकर सामान्य के सब भेदों का ग्रहण करते है, क्योंकि संग्रह नय सामान्यग्राही दृष्टि का नाम है।

"सामान्य सत्ता मात्रग्राही सत्तापरामर्शरूपसग्रह., स परापरभेदाद् द्विविध., तत्र शुद्धद्रव्यसन्मात्रग्राहक' चेतना लक्षणो जीव इत्यपरसंग्रह ।" —नयचक्रसार

इस प्रकार जो-जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार से विविध वस्तुओं का एकीकरण करके प्रवृत्त होते है, वे सब संग्रह नय की कोटि मे आ जाते है। सामान्य जितना छोटा होगा, सग्रह नय भी उतना ही छोटा बन जायगा और सामान्य जितना बड़ा होगा, सग्रह नय का क्षेत्र भी उतना

ही वड़ा हो जायगा। और सामान्य जितना छोटा होगा, संग्रह नय भी उतना ही छोटा वन जायगा। उदाहरण के लिए, जैसे कोई व्यक्ति वस्त्रों के अलग-अलग प्रकारों और डिजाइनों पर ध्यान न देते हुए केवल वस्त्ररूप सामान्य तत्त्व को ही दृष्टि में रखकर कह उठता है कि 'यहाँ तो वस्त्र ही वस्त्र भरा पड़ा है।' यहाँ पर वस्त्रत्व रूप सामान्य तत्त्व के द्वारा वस्त्रमात्र का संग्रह हो गया। यहाँ पर सत्ता का क्षेत्र वड़ा है। अतः संग्रह नय भी वड़ा ही हुआ। परन्तु जव हम कहीं पर खद्दर का ढेर देखकर कहते हैं कि 'यहाँ तो खद्दर ही खद्दर पड़ा हुआ है,' तो यहाँ पर खद्दर रूप सामान्य तत्त्व के आधार से खद्दरमात्र का संग्रह कर लिया गया। यहाँ पर वस्त्ररूप सामान्य तत्त्व की अपेक्षा खद्दररूप सत्ता का क्षेत्र छोटा है, तो संग्रह नय भी छोटा ही हुआ।

—❀—

संग्रहनय के उपर्युक्त कथन को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

विना वनस्पतिं कोऽपि, निम्बाम्रादिर्न दृश्यते ।
हस्ताद्यन्तर्भाविन्यो हि, नाङ्गुल्याद्यास्ततः पृथक् ॥७॥

अर्थ

[जिस प्रकार] वनस्पति से पृथक् नीम, आम, बबूल आदि कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते, हाथ में व्याप्त अंगुली तथा नाखून हाथ से अलग कहीं नहीं है [उसी प्रकार सामान्य से व्यतिरिक्त विशेष कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता]

विवेचन

प्रस्तुत पद्य में दृष्टान्त के द्वारा ग्रन्थकार ने इस बात का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है कि सामान्य से पृथक् विशेष धर्म कहीं भी दृष्टि-पथ में नहीं आता। जिस प्रकार वनस्पति से पृथक् कोई भी फल अथवा वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। अर्थात् नीम या आम आदि वृक्ष जब भी दिखलाई पड़ते हैं, तभी वनस्पति का बोध हो जाता है, अत. वनस्पति-सामान्य से अतिरिक्त वृक्ष,फल आदि विशेष का कहीं अस्तित्व नहीं हुआ। यहाँ पर वनस्पति एक

सामान्य धर्म है, और नीम, आम उसके विशेष धर्म हैं। परन्तु, वे नीम, आम, बबूल आदि विशेष, वनस्पति से पृथक् कहीं भी देखने मे नहीं आते, अत' सामान्य धर्म ही मानना युक्ति-सगत है।

पद्य के उत्तरार्ध मे कहा गया है कि जैसे अंगुली और नाखून हाथ से अलग नहीं हैं, प्रत्युत हाथ के ही अन्तर्भूत है। ऐसे ही फल, वृक्ष आदि विशेष भी वनस्पति-सामान्य मे ही समाविष्ट होजाते हैं, अलग रूप मे उनका अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता।

वृक्ष, लता आदि सब विशेष, वनस्पति-सामान्यरूप ही हैं, यह सिद्ध करते हुए श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है कि "आम, यह वनस्पति-सामान्य है। कारण, वह मूल, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीजवाला है। जो मूल, स्कन्ध आदि वाला है, वह सब वनस्पति-सामान्यरूप ही है, जैसे आमों का समूह। आम, यह भी मूल, स्कन्धादिवाला है, अतः वह वनस्पति-सामान्यरूप ही सिद्ध होता है, अलग विशेषरूप मे नहीं—

"चूओ वणस्सइ च्चिय, मूलाइगुणोत्ति तस्समूहो व्व।
गुम्मादओ वि एवं, सव्वे न वणस्सइ-विसिट्ठा॥"

—विशेषा०, २२१०

———

व्यवहारनय—

विशेषात्मकमेवार्थं, व्यवहारश्च मन्यते।
विशेषभिन्नं सामान्यमसत् खरविषाणवत् ॥८॥

अर्थ

व्यवहारनय वस्तु को विशेष-धर्मात्मक ही मानता है। विशेष से भिन्न सामान्य गधे के सींग की तरह असत् है।

विवेचन

संग्रहनय के द्वारा सामान्य तत्त्व के आधार से विविध वस्तुओं को एकरूप मे संगृहीत करने के बाद जब उनका विशेष रूप में बोध करना अभीष्ट होता है अथवा व्यवहार में उपयोग करने का प्रसंग उपस्थित होता है, तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है। केवल सामान्य के बोध अथवा कथन से जीवन का कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। व्यवहार के लिए सदा भेद बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि संग्रहनय तो सामान्यमात्र का ग्रहण कर लेता है; किन्तु वह सामान्य किरूप है? इसके लिए व्यवहार का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। दूसरे शब्दों में, संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक

अवहरण (विश्लेषण) करना ही व्यवहारनय है—

'अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार :'

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ३३, ६.

उदाहरण के लिए संग्रहनय के द्वारा, 'जगत् सत्, इस वाक्य में सत् [सत्ता] के रूप मे सम्पूर्ण जगत् का ग्रहण कर लिया गया। परन्तु, उसका विभाजन करता हुआ ार प्रश्न करता है कि वह सत् जीवरूप है अथवा अजीवरूप? केवल जीवरूप कहने से भी काम नहीं चल सकता। वह जीव नारक है, देव है, मनुष्य है अथवा तिर्यंच है? इस प्रकार व्यवहारनय वहाँ तक भेद करता चला जाता है, जहाँ आगे भेद करने की सम्भावना नहीं रहती है। व्यवहारनय का मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि है।

उपर्युक्त पद्य में ग्रन्थकार यही बतलाना चाहते है कि व्यवहारनय विशेष धर्म के रूप मे ही वस्तु को ग्रहण करता है, सामान्य रूप मे नहीं। और, विशेष से अलग सामान्य गधे के सींग की तरह कहीं उपलब्ध भी तो नहीं होता।
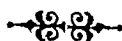
व्यवहारनय का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

वनस्पतिं गृहाणेति, प्रोक्तं गृहाति कोऽपि किम् ?
विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ॥६॥

अर्थ

"वत्स ! वनस्पति ले आओ, किसी के ऐसा कहने पर क्या वह [आम या जामुन का नाम लिए बिना] किसी आम आदि फल-विशेष को ला सकता है ? कदापि नहीं। अतः विशेष के विना सामान्य निरर्थक ही है ?

विवेचन ·

इससे पहले श्लोक में कहा गया था कि "विशेष के विना सामान्य गधे के सींग की तरह असत् है।" प्रस्तुत श्लोक में इसी बात का विशेष खुलासा करते हुए कहा गया है कि "जैसे किसी पिता ने अपने पुत्र से कहा—'वत्स ! वनस्पति ले आओ।' क्या वह आम अथवा नीम आदि विशेषों का नाम लिये विना किसी फल-विशेष को ला सकता है ? कदापि नहीं। क्योंकि किसी भी विशेष वनस्पति का नाम उसे बतलाया नहीं गया है। यदि कोई कहे कि विशेष को छोड़कर सामान्य वनस्पति को ले आए, तो

विशेष के अतिरिक्त वह वनस्पति, सामान्य रूप मे मिलती कहाँ है ? यदि विशेष के अतिरिक्त वनस्पति, सामान्य रूप मे उपलब्ध होती है, तो हम पूछेंगे कि 'क्या वह आम, नीम, कदम्ब, जामुन, नीम आदि विशेषों से भिन्न है ? यदि भिन्न मान लें, तो वह आम, जामुन, नीम आदि का अभावरूप होने के कारण घट, पट की तरह अवनस्पति-रूप ही हुई। अत. व्यवहार नय सामान्य-रहित विशेष को ही ग्रहण करता है। वह ऐसा विचार करता है कि वनस्पति यह क्या वस्तु है ? आम, नीम, जामुन है अथवा बबूल है ? क्योंकि इनके अतिरिक्त वृक्षत्वरूप सामान्य तो कहीं दृष्टिगत होता नहीं। अत विशेष को ग्रहण किये विना सामान्य निरर्थक है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है कि "आम आदि विशेष से वह वनस्पतिरूप सामान्य क्या भिन्न है ? यदि भिन्न है, तो विशेष से भिन्न होने के कारण वह आकाश-पुष्प की भांति अविद्यमान है—

"चूयाईएहिंतो को सो अण्णो वणस्सई णाम ?
नत्थि विसेसऽत्थंतरभावाओ सो खपुप्फं व ॥"

—विशेषा०, ३५
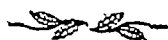
'विशेष के द्वारा ही लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होती है, सामान्य से नहीं,—इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने ।
उपयोगो विशेषैः स्यात्, सामान्ये न हि कर्हिचित्॥१०॥

अर्थ

जख्म पर मरहम पट्टी, पैर पर लेप, आँख में अंजन इत्यादि लोक-प्रयोजन उपस्थित होने पर विशेषों के द्वारा ही उनकी सिद्धि (पूर्ति) होती है, सामान्य से नहीं।

विवेचन

विशेष के द्वारा ही सारे लौकिक कार्य सिद्ध होते हैं, सामान्य से नहीं—इसी बात को उदाहरण द्वारा यहाँ समझाने का प्रयत्न किया गया है। किसी व्यक्ति को शरीर के किसी अंग में कोई जख्म होने पर मरहम पट्टी करनी पड़े, फोड़ा-फुन्सी अथवा दर्द होने पर पग पर लेप करना हो और आँख में अंजन आदि डालने की आवश्यकता हो, तो इन लौकिक कार्यों के उपस्थित होने पर विशेषों के द्वारा ही कार्य-निष्पत्ति हो सकती है, सामान्य के द्वारा नहीं।

अर्थात् जिस रोग के लिए जिस औषधि के प्रयोग की आवश्यकता हो, तो उस औषधि का नाम लेने से ही औषधि उपलब्ध हो सकती है। केवल, बाजार मे वैद्य या डाक्टर की दूकान पर खड़े होकर "औषधि दीजिए, औषधि दीजिए" की रट लगाने से प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता। वहाँ तो अमुक रोग की अमुक औषधि का विशेष रूप से नामोल्लेख करना होगा। ऐसा करने पर ही औषधि प्राप्त हो सकती है, और फिर पट्टी आदि करके कार्य सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। फलत जीवन-क्षेत्र मे पग-पग पर विशेष ही कार्य-साधक हो सकता है, सामान्य नहीं। विशेष के विना सामान्य नपुंसक है।
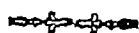
ऋजुसूत्रनय—

ऋजुसूत्रनयो वस्तु, नातीतं नाप्यनागतम्।
मन्यते केवलं किन्तु, वर्तमानं तथा निजम् ॥११॥

अर्थ

ऋजुसूत्रनय वस्तु की अतीत और अनागत पर्याय को नहीं मानता। वह तो केवल वस्तु की वर्तमान पर्याय और वह भी अपनी ही पर्याय को स्वीकार करता है।

विवेचन

ऋजु का अर्थ है अवक्र=सरल और सूत्र का अर्थ है सूचना देना। अथवा ऋजु=अवक्र और श्रुत=बोध। जिसका अवक्र बोध हो, वह ऋजुसूत्र। अथवा जो वस्तु को अवक्रता=सरलता से ग्रहण करता है, वह, ऋजुसूत्र। वर्तमानकालीन और स्वकीय वस्तु प्रत्युत्पन्न कहलाती है, ऐसी वस्तु को यह नय अवक्र मानता है। इससे विपरीत जो वस्तु हो, उसे अविद्यमान होने के कारण यह नय उसे वक्र कहता है—

"उज्जु' रुजु' सुयं नाणमुज्जुसुयस्स सोऽयमुज्जुसुओ।
सुत्तयइ वा जमुज्जं वत्थु' तेणुज्जुसुत्तोत्ति ॥
पच्चुप्पन्न' संपयमुप्पन्न' जं च जस्स पत्तेयं।
तं रिजुतयेव तस्सत्थि उ वक्कमन्न'ति जमसंतं ॥

—विशेषा०, २२२२,२२२३

इस प्रकार ऋजुसूत्र नय वस्तु की भूत और भविष्यत् पर्याय की उपेक्षा करके केवल वर्तमान पर्याय का ग्रहण करता है। पर्याय की स्थिति वर्तमान काल मे ही होती है, भूत और भविष्यत् काल मे द्रव्य रहता है। यद्यपि मनुष्य की कल्पना अतीत एवं भविष्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकती, तथापि मानव की बुद्धि कभी-कभी तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर केवल वर्तमान को ही छूने लगती है और यह मानने लगती है कि जो वर्तमान में है, वही सत्य है, कार्य-साधक है; भूत और भविष्यत् से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसका आशय यह नहीं कि वह भूत और भविष्यत् का निषेध करता है। केवल, प्रयोजन न होने के कारण उनकी ओर उदासीन दृष्टि रखता है। वह मानता है कि वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न है। इस क्षण की अवस्था इसी क्षण तक सीमित है। दूसरे क्षण की अवस्था दूसरे क्षण तक सीमित है। इस तरह ऋजुसूत्र क्षणभङ्गवाद मे विश्वास करता है।

ऋजुसूत्र नय के विषय को पुनर्वार स्पष्ट करते हैं :—

अतीतेनानागतेन, परकीयेन वस्तुना ।
न कार्यसिद्धिरित्येतदसद् गगनपद्मवत् ॥१२॥

अर्थ

अतीत, अनागत और परकीय वस्तु से कार्य-सिद्धि नहीं होती, अतः ये सब आकाश-पुष्प की तरह निरर्थक हैं।

विवेचन

ऋजुसूत्र नय वस्तु की वर्तमान काल की पर्याय को ग्रहण करके चलता है। भूत और भविष्य को वह उपेक्षणीय दृष्टि से देखता है। उसका अभिप्राय यह होता है कि जो अतीत की पर्याय है, वह नष्ट हो चुकी है और भविष्य की पर्याय अभी अनुत्पन्न है। अतः भूत पर्याय नष्ट होने के कारण और भविष्य पर्याय उत्पन्न न होने कारण दोनों ही वर्तमान में कार्यकारी नहीं हो सकती! केवल वर्तमान कालकी पर्याय-जो इस समय वर्तमान है—वही कार्य-साधक होने से सत्य है। जैसे किसी का पुत्र पहले राजा रह चुका हो और वर्तमान में वह राज पद से च्युत हो गया हो, तो उसकी पूर्व राज्यावस्था वर्तमान में कार्यकारी नहीं हो सकती। इसी

प्रकार भविष्य में किसी व्यक्ति को राज-पद मिलनेकी सम्भावना हो, तो भी उस भविष्य की राज्यावस्था से वर्तमान काल मे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अत' वर्तमानकालीन वस्तु ही कार्य-साधक होने से वस्तु है।

एक बात और। वर्तमान काल मे भी अपनी वस्तु ही कार्य-साधक हो सकती है, दूसरे की नहीं। यज्ञदत्त का धन यज्ञदत्त के काम आ सकता है, देवदत्त का नहीं। अत. परकीय वस्तु भी पर-धन की तरह निष्प्रयोजन है।

ऋजुसूत्र नय और आगे के शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय किस निक्षेप को मानते हैं, इस बात का खुलासा करते हैं—

नामादिषु चतुर्ष्वेषु, भावमेव च मन्यते ।
न नामस्थापनाद्रव्याण्येवमग्रेतना अपि ॥१३॥

अर्थ

ऋजुसूत्र और आगे के तीन नय चार निक्षेपों में से नाम, स्थापना और द्रव्य को छोड़कर केवल भाव निक्षेप को स्वीकार करते हैं।

विवेचन

एक ही शब्द, प्रयोजन तथा प्रसङ्ग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। कम-से-कम प्रत्येक शब्द के चार अर्थ तो पाये ही जाते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ-सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। वे चार निक्षेप ये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

शब्द का अर्थ करने में कोई गड़बड़ न हो और वक्ता का अभिप्राय ठीक-ठीक समझ में आ जाय—इस भावना

मे से ही निक्षेप के विचार का जन्म हुआ है। किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ करते समय उस शब्द के जितने अर्थ-विभाग हो सकते है, यह बतलाने मे, और प्रस्तुत मे वक्ता को कौन-सा अर्थ विवक्षित है और कौन-सा अर्थ सगत है—इस विचारणा मे ही निक्षेप-विषयक विचार की उपयोगिता है। उदाहरण के तौर पर "जीव का गुण चेतना है"—किसी ने यह वाक्य बोला। सुनने वाले के मन में यह विचार उठेगा कि 'जीव' शब्द से यहाँ पर कौन-सा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ? विचारक को यह समझने मे विलम्ब नहीं होगा कि यहाँ पर जीव नामक कोई व्यक्ति, जीव की स्थापना अथवा द्रव्य जीव विवक्षित नहीं है; प्रत्युत चैतन्य धारण करने वाला तत्त्व—भाव जीव ही विवक्षित है। और वही प्रस्तुत वाक्य मे संगत भी है।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द के अर्थ के विषय में गड़बड़ होते समय निक्षेपवादी विचारक स्पष्टतः विवक्षित अर्थ जानकर उस गड़बड़ और असमंजस को दूर कर सकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब किसी भी सार्थक शब्द के अर्थ पर विचार करना पड़ता है, तो उसके अर्थ कम-से-कम चार मिल सकते हैं। वे चारों प्रकार उस शब्द के अर्थ-सामान्य के निक्षेप—विभाग कहलाते हैं। जो नाम

मात्र से राजा होता है, वह नाम राजा, जो राजा का चित्र या उसकी प्रतिकृति हो, वह स्थापना राजा, जो भूतकाल में राजा रह चुका हो अथवा भविष्य में राजा बनने वाला हो, वह द्रव्य राजा और जो वर्तमान में राज-पद का अनुभव करता हुआ सिंहासन पर शोभा पा रहा है, वह भाव राजा। राजा शब्द के ये चार निक्षेप हुए।

इन चार निक्षेपों में से ऋजुसूत्रनय केवल भाव निक्षेप को ही मानता है। ऋजुसूत्र वस्तु की अतीतकालीन पर्याय को स्वीकार नहीं करता; क्योंकि वह नष्ट हो गई। भावी पर्याय को भी नहीं मानता, क्योंकि वह अभी अनुत्पन्न स्थिति में है। इस प्रकार यह नय पदार्थ के वर्तमान भाव (पर्याय) को ग्रहण करने वाला है। भवनीति भावः अर्थात् वर्तमान में जो पर्याय अस्तित्वरूप में मौजूद हो—उसे ग्रहण करने के कारण ऋजुसूत्र भावनिक्षेप का ग्राहक है। इसी प्रकार शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये तीन नय भी भावग्राही होने के कारण भाव निक्षेप को ही स्वीकार करते हैं, नाम, स्थापना और द्रव्य को नहीं। कहा भी है—

नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो य पज्जवणयस्स।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स॥

—विशेषा०, ७५

नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिक नय का विषय हैं और भाव पर्यायार्थिक नय का विषय है। संग्रह, व्यवहार और नैगम द्रव्यार्थिक हैं और शेष पर्यायार्थिक हैं।

शब्दनय—

अर्थं शब्दनयोऽनेकैः, पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुम्भ-कलश-घटाद्येकार्थवाचकाः ॥१४॥

अर्थ

शब्दनय अनेक पर्यायों [शब्दों] द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है। जैसे कुम्भ, कलश और घट आदि अनेक शब्द (पर्याय) एक ही (घट) पदार्थ को कहने वाले हैं।

विवेचन

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये तीनों नय शब्दशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। शब्दनय, शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद स्वीकार नहीं करता। जैसे कुम्भ, कलश और घट शब्द अलग-अलग होने पर भी इन तीनों शब्दों का अर्थ घटरूप पदार्थ एक ही है।

ग्रन्थकार ने शब्दनय का यहां पर 'शब्द-भेद से अर्थ-भेद नहीं होता'—केवल इतना ही अभिप्राय लिया है। परन्तु, शब्द-नय का अर्थ इससे और अधिक व्यापक है। शब्दनय केवल एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दों में ही किसी प्रकार का अर्थ भेद

नहीं मानता। परन्तु, काल,कारक, लिङ्ग और उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ भेद अवश्य मानता है। उसका मन्तव्य यह है कि जैसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों कालों में कोई सूत्र-रूप एक वस्तु नहीं है; किन्तु वर्तमान क्षणवर्ती वस्तु ही एकमात्र कार्य-साधक होने से वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न काल, कारक, लिङ्ग और उपसर्ग आदि से युक्त शब्दों द्वारा अभिधेय वस्तुएँ भी भिन्न-भिन्न माननी चाहिएँ। विचार की इस गहराई में पहुँचकर मनुष्य की बुद्धि काल, लिङ्ग आदि के भेद से अर्थ मे भी भेद करने लगती है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

काल-भेद से अर्थ-भेद—शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि 'अयोध्या नाम की नगरी थी।' इस वाक्य का अभिप्राय यही है कि अयोध्या नाम की नगरी भूतकाल में थी, वर्तमान मे नहीं, जबकि लेखक के समय में भी अयोध्या नगरी मौजूद है। उसके विद्यमान होते हुए 'थी' यह भूतकाल का प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर शब्दनय यही देता है कि वर्तमान कालीन अयोध्या से भूतकाल की अयोध्या तो भिन्न ही है और उसी का वर्णन प्रस्तुत होने से 'अयोध्या नगरी थी' ऐसा प्रयोग किया गया। यह काल-भेद से अर्थ-भेद का उदाहरण हुआ।

लिंग-भेद से अर्थ-भेद—शब्दनय स्त्रीलिङ्ग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिङ्ग से नहीं मानता, पुल्लिङ्ग से वाच्य अर्थ का बोध नपुंसकलिङ्ग से नहीं मानता और नपुंसकलिङ्ग से वाच्यार्थ का बोध पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग से नहीं करता। जैसे कुआ, कुई। यहाँ पर 'कुआ' शब्द पुल्लिङ्ग है और 'कुई' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इन दोनों का अर्थ-भेद भी व्यवहार में सर्व-विदित है। कितने ही ताराओं को नक्षत्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है, फिर भी शब्दनय की दृष्टि से 'अमुक तारा नक्षत्र है' अथवा 'यह मघा नक्षत्र है'—ऐसा शब्द-व्यवहार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस नय की दृष्टि से लिङ्ग भेद में अर्थ-भेद होने के कारण 'तारा और नक्षत्र' तथा 'मघा और नक्षत्र' इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं कर सकते।

कारक-भेद से अर्थ-भेद—देवदत्त ने, देवदत्त को, देवदत्त के लिए, देवदत्त से अथवा देवदत्त पर आदि शब्दों में कारक-भेद से अर्थ-भेद है।

उपसर्ग-भेद से अर्थ-भेद—उपसर्ग के कारण एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। जैसे 'हृञ्' धातु का अर्थ है हरण करना—चुराना। परन्तु उपसर्ग लगाने से वह

अनेक अर्थ वाली हो जाती। है जैसे—उपहार (भेंट), प्रहार (चोट) आहार (भोजन) विहार (प्रस्थान) संहार (विनाश) परिहार (त्याग)।

इस प्रकार विविध शब्दों के विविध संयोगों के आधार पर अर्थ-भेद की जितनी भी परम्पराएँ प्रचलित हैं, वे सब शब्दनय के अन्तर्गत आजाती हैं। शब्दशास्त्र का समूचा विकास शब्दनय की मूल-भित्ति पर ही हुआ है।

समभिरूढ़नय—

मनुते समभिरूढोऽर्थं, भिन्नपर्यायभेदतः ।
भिन्नार्थाः कुम्भकलशघटा घटपटादिवत् ॥१५॥

अर्थ

समभिरूढ़नय शब्द के पर्याय-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता है। घट-पट की तरह कुम्भ, कलश और घट शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं।

विवेचन

शाब्दिक धर्मभेद के आधार पर अर्थभेद की कल्पना करने वाली मानव-बुद्धि जब ज़रा और गहराई में उतरती है, तो वह यह मानने के लिये तैयार हो जाती है कि जब काल लिङ्ग, कारक और उपसर्ग के भेद से अर्थ-भेद माना जा सकता है तो, व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद भी क्यों न स्वीकार किया जाय ? इस व्युत्पत्ति मूलक शब्दभेद से अर्थ-भेद मानकर ही समभिरूढ़ नय की प्रवृत्ति होती है। समभिरूढ़ नय कहता है कि प्रत्येक शब्द अपनी व्युत्पत्ति (प्रवृत्ति निमित्त) के आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता है। समभिरूढ़ का अर्थ ही यह है कि "सम् = सम्यक्

प्रकारेण पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थमभिरोहन् समभिरूढ़ः—अर्थात् पर्यायवाचक शब्दों में व्युत्पत्ति-मूलक शब्द-भेद की कल्पना करने वाला नय।"

ग्रन्थकार ने पद्य के उत्तरार्ध में उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे घट और पट—इन दोनों के प्रवृत्ति-निमित्त (व्युत्पत्ति) अलग होने से अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार कुम्भ, कलश और घट—ये तीनों पर्यायवाची शब्द भी भिन्न-भिन्न अर्थ के प्रतिपादक हैं; क्योंकि तीनों की व्युत्पत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। कुम्भनात् [कुत्सित रूप से पूर्ण होने से] कुम्भः, कलनात् [जल से शोभा पाने वाला होने से] कलशः, घटनात् [जलाहरणादि विशिष्ट चेष्टा करने वाला होने से] घटः। सारांश यह है कि जैसे वाचक शब्द के भेद से घट-पट-स्तम्भ आदि शब्दों से वाच्य घटादि पदार्थ भिन्न है, उसी प्रकार कुम्भ, कलश, घट आदि में भी वाचक शब्दों का भेद है, अतः उनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। कारण, एक अर्थ में अनेक शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती—ऐसा समभिरूढ़ नय का मन्तव्य स्पष्ट है। शब्दनय की दृष्टि से इन्द्र, शक्र, और पुरन्दर—ये सब एकार्थक हैं, इनका अर्थ इन्द्र है। परन्तु, समभिरूढ़नय की दृष्टि से "इन्दनात् इन्द्रः = ऐश्वर्य वाला होने से इन्द्र, शक्नात् = शक्रः = शक्ति वाला होने से

शक्र और पूर्दारणात् पुरन्दरः = दैत्यों के नगर का नाश करने से पुरन्दर कहलाता है।" इन्द्र, शक्र और पुरन्दर पर्यायवाची होते हुए भी व्युत्पत्ति-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ के प्रतिपादक हैं—ऐसा समभिरूढ़ नय का कथन है।

व्यतिरेकि दृष्टान्त के द्वारा समभिरूढ़नय के मन्तव्य को पुष्ट करते हैं—

यदि पर्यायभेदेऽपि, न भेदो वस्तुनो भवेत्।
भिन्नपर्याययोर्न स्यात्, स कुम्भपटयोरपि ॥१६॥

अर्थ

यदि पर्याय का भेद होने पर भी वस्तु का भेद न माना जाय, तो भिन्न पर्यायवाले कुम्भ और पट में भी भेद नहीं होना चाहिए।

विवेचन

समभिरूढ़ नय शब्द-भेद होने पर अर्थ-भेद स्वीकार करता है। इस व्याख्या की पुष्टि के लिए ही ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यदि पर्याय के भेद होने पर भी वस्तु का भेद नहीं माना जायगा, तो फिर पर्याय-भेद होने पर भिन्न पर्याय वाले कुम्भ और पट के अर्थ में भी कोई भेद नहीं होना चाहिए। कुम्भ शब्द अलग है और पट शब्द अलग है। दोनों के प्रवृत्ति-निमित्त भी अलग-अलग हैं। अर्थात् कुम्भनात् कुम्भः,—कुत्सित रूप से पूर्ण होने से कुम्भ कहा जाता है और पटनात्=अच्छादनात् पटः—अच्छादन करने के

कारण पट कहलाता है। कुम्भ और पट इन दोनों शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त [व्युत्पत्ति] और शब्द भिन्न होने पर भी दोनों के अर्थ मे कोई भेद नहीं होना चाहिए, यानी दोनों एकार्थक होने चाहिएँ। पर, लोक में दोनों एकार्थक नहीं हैं, भिन्नार्थक हैं; क्योंकि दोनों के पर्याय = प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार कुम्भ, कलश और घट की पर्याय [व्युत्पत्ति] भिन्न-भिन्न होने से उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए—यही प्रस्तुत पद्य का आशय है।

—ॐ:ॐ—
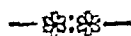
एवंभूत नय—

एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते।
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवंभूतनयो ध्रुवम् ॥१७॥

अर्थ

एक पर्याय (शब्द) के द्वारा कथित वस्तु [कथन के समय] निश्चित रूप मे अपना कार्य करती हुई एवंभूत नय कहलाती है।

विवेचन

विवेचनाशील व्यक्ति की बुद्धि जब चिन्तन के क्षेत्र में और आगे बढ़ती है,तो वह यहाँ तक पहुँच जाती है कि यदि व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद माना जा सकता है, तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जब वह व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित हो रहा हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार किया जाय, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ़नय तो व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ-भेद तक ही सीमित रह जाता है; किन्तु समभिरूढ नय एक कदम और आगे बढ़कर कहता है कि जब वह व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित हो रहा हो, उसी समय उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए। जिस शब्द का जो अर्थ है, उसके

घटित होने पर ही उस शब्द का प्रयोग यथार्थ हो सकता है, और यही एवंभूत नय है। अतः श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि—"शब्दार्थ के अनुसार नाम हो, तो वह अर्थ विद्यमान है, यदि उससे विपरीत अर्थ हो तो, वह अविद्यमान है। इस कारण से एवंभूतनय विशेषरूप से शब्दार्थ में तत्पर है—

"एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ।
तेणेवंभूतनओ सद्दत्थपरो विसेसेणं॥"

—विशेषा०, २२५१

अभिप्राय यह है कि एवंभूतनय की दृष्टि से घट तभी 'घट' कहला सकता है, जब वह स्त्री के मस्तक पर रखा हुआ जलाहरणादि क्रिया कर रहा हो। जलाहरणादि क्रिया से रहित घर के कोने में रखे हुए घट को एवंभूत नय 'घट' मानने को तैयार नहीं है। इस नय के अनुसार किसी समय राज-चिन्हों से शोभित होने की योग्यता को धारण करना अथवा प्रजा की रक्षा के दायित्व को प्राप्त कर लेना ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत राजा उसी समय 'राजा' कहला सकता है, जबकि वह वास्तव में राज-दण्ड को धारण करता हुआ सिंहासन पर

बैठा सुशोभित हो रहा हो।। इसी दृष्टि से उपाध्याय यशोविजयजी कह रहे हैं —

"एवंभूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
राज चिन्हैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥

—नयोपदेश, ३६

इसी प्रकार 'नृप' कहलाने का अधिकारी भी वह तभी है, जिस समय प्रजा की रक्षा कर रहा हो।

सारांश यह है कि जब कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे सम्बन्धित विशेषण अथवा विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाली सब मान्यताएँ एवंभूत नय कहलाती हैं।

व्यतिरेकि दृष्टान्त द्वारा एवंभूतनय के विषय को दृढ़ करते हैं-

यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत् ।
तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ? ॥१८॥

अर्थ

अपनी क्रिया न करता हुआ भी पदार्थ यदि उस नाम से अभिहित किया जाय तो, फिर पट में 'घट' शब्द की वाच्यता क्यों न स्वीकार की जाय ?

विवेचन

प्रस्तुत श्लोक में एवंभूतनय के विषय को पुष्ट करने के लिए ग्रन्थकार स्वयं एक कुशल प्राश्निक बनकर वादी से पूछ रहे हैं कि—"कोई पदार्थ अपनी क्रिया न करता हुआ भी यदि उस नाम से पुकारा जाय अर्थात् अपनी क्रिया से शून्य पदार्थ भी यदि तन्नाम से अभिहित किया जाय, तो फिर पट ने ही क्या अपराध किया है ? उसमें भी 'घट' शब्द की वाच्यता क्यों नहीं स्वीकार कर ली जाती ? दूसरे शब्दों में, यदि जलाहरणादि अपनी क्रिया न करता हुआ भी घट'घट'कहला सकता है,तो जलाहरण क्रिया न करता हुआ पट भी घट क्यों नहीं कहला सकता ? क्योंकि जलाहरण

क्रिया का न होना दोनों जगह समान है। अर्थात जैसे जलाहरण क्रिया से शून्य 'घट' शब्द घट का वाचक है, वैसे ही जलाहरण क्रिया से शून्य पट का वाचक भी 'घट' शब्द को मानना चाहिए। घट-क्रिया से शून्य घट और पट दोनों में पक्ष समता है। पर, लोक में 'घट' शब्द पट का वाचक नहीं माना जाता, क्योंकि दोनों की क्रिया अलग-अलग है।

सारांश यह है कि जलाहरणादि अपनी क्रिया करता हुआ घट ही 'घट' कहला सकता है। सेवा करता हुआ व्यक्ति ही 'सेवक' कहला सकता है, अन्यथा नहीं।

उत्तरोत्तर नयों की सूक्ष्मता और उनके उत्तर भेदों का कथ
करते हैं—

यथोत्तरं विशुद्धाः स्युर्नयाः सप्ताप्यमी तथा ।
एकैकः स्याच्छतं भेदास्ततः सप्तशताप्यमी ॥१६॥

अर्थ

ये सातों ही नय पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर विशु
[सूक्ष्म] होते चले गये हैं। और एक-एक नय के सौ भे
होने से सात नयों के कुल सात सौ भेद होते हैं।

विवेचन

इस पद्य में ग्रन्थकार ने सातों नयों में क्रमश
शुद्धता (सूक्ष्मता) का दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने बतलाय
है कि इन सातों नयों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय
विशुद्ध होते चले गये हैं। विशुद्ध का अर्थ यहाँ पर
सूक्ष्म लेना चाहिए। नैगम नय का विषय सब से स्थूल
(अधिक) है, क्योंकि गौण-प्रधान भाव से वह सामान्य
और विशेष दोनों का ग्रहण करता है। कभी सामान्य को
प्रधानता देता है और विशेष को गौणरूप से ग्रहण करता
है, तो कभी विशेष का प्राधान्य रूप से ग्रहण करता है और
सामान्य को गौण रीति से स्वीकार करता है। संग्रहनय का

विषय नैगम की अपेक्षा न्यून है; क्योंकि वह केवल सामान्य का ग्रहण करता है। व्यवहार का विषय संग्रह से भी न्यून है; क्योंकि वह संग्रहनय द्वारा संगृहीत विषय का ही कुछ विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है। ऋजुसूत्र का विषय व्यवहार से भी कम है, क्योंकि व्यवहार तो भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों काल के विषय की सत्ता स्वीकार करता है, जबकि ऋजुसूत्र भूत और भविष्यत् को छोड़कर वर्तमान की सीमा में ही बन्द है। शब्दनय का विषय ऋजुसूत्र से भी न्यून है, क्योंकि वह काल, कारक, लिङ्ग और उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ मे भेद मान कर चलता है। समभिरूढ़नय का विषय शब्दनय से भी थोड़ा हो गया है, क्योंकि वह व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद की नीति पर विश्वास करता है, जबकि शब्दनय समानलिङ्ग वाले पर्यायवाची शब्दों मे किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करता। एवंभूत का विषय तो अत्यन्त अल्प हो जाता है, क्योंकि वह अर्थ को तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है, जबकि व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ उस पदार्थ में घटित हो रहा हो।

इस पर से यह बात सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो जाती है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय का विषय न्यून होता चला गया है। ज्यों-ज्यों विषय अल्प होता

जाता है, त्यों-त्यों वह नय सूक्ष्म और शुद्ध होता जाता है। दूसरे शब्दों में, सूक्ष्म होने के कारण ही सातों नय उत्तरोत्तर विशुद्ध होते चले गये हैं।

नय के उत्तर-भेदों की संख्या सात सौ है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, और एवंभूत—ये सात मूल नय हैं। एक- एक मूलनय के सौ-सौ उत्तर भेद होने से सातों मूल नयों के कुल सात सौ उत्तर भेद होते हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी यही बात कही है—

"एक्केक्को य सयविहो सत्त नयसया हवंति एमेव।"

—विशेषा०, २२६४

एक-एक नय के सौ-सौ भेद होने से नयों के कुल सात सौ भेद होते हैं।
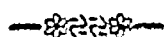
मतान्तर से नय के पाँच सौ भेद भी हैं, यह दिखलाते हैं—

अथैवंभूतसमभिरूढयोः शब्द एव चेत् ।
अन्तर्भावस्तदा पञ्च नयाः पञ्चशतीभिदः ॥२०॥

अर्थ

यदि समभिरूढ और एवंभूत का शब्दनय में ही समावेश कर दिया जाय तो, मूल में नय पाँच हैं और उनके उत्तरभेद पाँच सौ होते हैं।

विवेचन

जब मूल में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत—नय के ये सात भेद मानकर चलते हैं तो, प्रत्येक मूलनय के सौ भेद होने से उत्तरभेदों की सख्या सात सौ होती है। परन्तु, जब समभिरूढ तथा एवंभूत की पृथक् गणना न करके उन दोनों का शब्दनय में अन्तर्भाव कर देते हैं तो, मूल में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द—ये पाँच नय ही रह जाते हैं, और प्रत्येक मूलनय के सौ-सौ भेद होने से पाँच नयों के कुल मिलाकर पाँच सौ भेद हो जाते हैं। इस मतान्तर का उल्लेख करते हुए श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है कि "एक अन्य आदेश भी है, जिससे नय के पाँच सौ भेद होते हैं—

"अन्नो वि य आएसो, पंचसया होंति नयाणं।"

—विशेषा०, २२६४

सात नयों का दो नयों में वर्गीकरण करते हैं—

द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरन्तर्भवन्त्यमी ।
आदावादिचतुष्टयमन्त्ये चान्त्यास्त्रयस्ततः ॥२१॥

अर्थ

ये सात नय द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक—इन दो नयों मे अन्तर्भूत हो जाते हैं। द्रव्यास्तिक मे प्रथम के चार और पर्यायास्तिक मे अन्त के तीन का समावेश होता है।

विवेचन

विश्व के मच पर जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब एक-दूसरे से न तो सर्वथा समान ही है और न सर्वथा असमान ही हैं। उनमें समानता तथा असमानता—ये दोनों ही अंश विद्यमान रहते है। इसी विचार-कोण से संसार का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेष—उभयात्मक कहलाता है। विचारशील व्यक्ति जब उन पदार्थों के विषय में विचार-चिन्तन करता है,तो उसकी बुद्धि का झुकाव कभी उस पदार्थ के सामान्य अंश की ओर होता है और कभी विशेष अंश की ओर। सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला विचार द्रव्यार्थिक नय और विशेष अंश को ग्रहण करने वाला

विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। द्रव्यास्तिक नय का अर्थ है–अभेदगामी दृष्टि और पर्यायास्तिक नय का अर्थ है–भेदगामी दृष्टि। वस्तु-निरूपण की सारी पद्धतियों का इन दो दृष्टियों में ही समावेश हो जाता है। क्योंकि विचार करने की वह पद्धति या तो सामान्य-बोधक होगी, अथवा विशेष-बोधक। जैन-दर्शन के ज्योतिर्धर आचार्य सिद्धसेन की भाषा में इन दो दृष्टियों का नाम संग्रहप्रस्तार और विशेषप्रस्तार है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "तीर्थंकरों के प्रवचन मे सामान्य और विशेषरूप विचारों की मूल प्रतिपादक संग्रहप्रस्तार और विशेषप्रस्तार ये दो दृष्टियाँ हैं। संग्रहप्रस्तार का नाम द्रव्यार्थिक नय और विशेषप्रस्तार का नाम पर्यायार्थिक नय है। शेष इन्हीं दो के भेद-प्रभेद हैं–

तित्थयरमूलसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥

—सन्मति-तर्क, १.३

सारांश यह है कि चाहे हम वस्तु-निरूपण की किसी भी पद्धति को लें, वह या तो सामान्य-मूलक होगी अथवा विशेष-मूलक होगी। दूसरे शब्दों में, वह पद्धति या तो अभेदगामी होगी अथवा भेदगामी। इन दो दृष्टियों को छोड़कर वह कहीं अलग नहीं जा सकती। अतः मूल मे द्रव्य अर्थात् अभेद

और पर्याय अर्थात् भेद—ये दो ही दृष्टियाँ हैं और इन दो दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नय भी दो ही हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अन्य सब भेद-प्रभेद इन्हीं दो नयों की शाखा-प्रशाखा के रूप में हैं।

प्रस्तुत श्लोक में नय के सात भेदों का समावेश द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक इन दो नयों में किया गया है। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—इन पहले चार नयों का अन्तर्भाव द्रव्यास्तिक नय में होता है, क्योंकि ये चार नय द्रव्य पर आश्रित रहते हैं। अन्त के शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये नय पर्याय को लेकर प्रवृत्त होते हैं, अतः पर्यायास्तिक नय में ही इनका समावेश होता है। इस प्रकार सात नयों का द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक इन दो नयों मे समावेश समझना चाहिए।
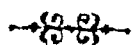
नैगम आदि सात नय भगवान् के प्रवचन की किस प्रकार सेवा करते हैं, इस बात को स्पष्ट करते हैं—

सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते,
सम्भूय साधु समयं भगवन् ! भजन्ते ।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम—
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक् ॥२२॥

अर्थ

भगवन् ! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा एकत्रित होकर युद्ध-रचना में चक्रवर्ती के चरण-कमलों की सेवा करते हैं; उसी प्रकार ये सातों नय परस्पर विरोधी होते हुए भी, आपके सुन्दर आगम (प्रवचन) की एकत्रित होकर सेवा करते हैं।

विवेचन

जैन-दर्शन की मूल चिन्तन-धारा के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। जो विचार वस्तु के उन अनन्त धर्मों में से किसी एक विशिष्ट धर्म को लेकर अन्य धर्मों की ओर उदासीन भाव रखते हुए वस्तु का सापेक्ष

वर्णन करता है, उसे नय कहते हैं—

"अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयनं नयः ।"

—नयचक्रसार

यदि वह विचार विवक्षित धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो का निषेध या निराकरण करता है, तो वह नय नहीं, दुर्नय अथवा नयाभास कहलाता है। नयाभास का लक्षण है—

"स्वाभिप्रेतादंशाद् इतरांशापलापी नयाभासः"

—अपने अभीष्ट अंश से दूसरे अंश का निषेध करने वाला विचार नयाभास कहलाता है।

आचार्य-मूर्धन्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने भी कहा है कि "सारे नय अपने-अपने वक्तव्य मे सच्चे है, और दूसरे के वक्तव्य का निराकरण करने मे झूठे है। अनेकान्त सिद्धान्त का पारखी उन नयो में 'यह सच्चा' और 'यह झूठा'—ऐसा विभाग नहीं करता—

"णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥

—सन्मति-तर्क, १,२८

प्रस्तुत पद्य में उपाध्याय श्री जी कह रहे हैं कि जैसे राजा लोग परस्पर में चाहे कितना ही कलह और संघर्ष करें; परन्तु चक्रवर्ती सम्राट् की आज्ञा का पालन करते समय वे सब राजा परस्पर का वैर-विरोध भूल कर एकजूट हो जाते हैं;

उसी प्रकार सब नय [जो परदर्शन-रूप हैं] चाहे परस्पर मे कितने ही विरोधी दृष्टि-गत होते हो, पर जिन-शासनरूपी चक्रवर्ती की आज्ञा मे तो वे सब शान्तिपूर्वक अविरोधी होकर सेवा में तत्पर रहते हैं।

संसार मे अनन्त प्राणी हैं, अत: उनकी विचार-सरणियाँ भी अनन्त हैं। और जितनी विचार-पद्धतियाँ हैं, उतने ही पर-समय है। यदि उन सब पर-सिद्धान्तों को—जो अन्य दर्शन के रूप मे हैं—एकत्रित कर दिया जाय, तो वही जैन-दर्शन का रूप बन जाता है। अन्य दर्शनों के समन्वित रूप का नाम ही तो जैन-दर्शन है। अत: जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है—

> जावंतो वयणपहा तावंतो वा नया विसद्दाओ।
> ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे॥
>
> विशेषा०, २२६५

—जितने भी वचन के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं और जितने नय हैं, वे सब एकान्त निश्चय वाले होने से अन्य दर्शन-रूप हैं। परन्तु, जब वे समुदित (एकत्रित) हो जाते हैं, तो एकान्त निश्चय से रहित होकर, 'स्यात्' शब्द से युक्त होने के कारण सम्यक् [सच्चे] बन जाते हैं।

अतः वीतराग भगवान् का एक स्तुतिकार आचार्य कह रहा है कि है कि—"हे नाथ ! जैसे समुद्र में इधर-उधर से आकर सब नदियाँ मिल जाती हैं; उसी प्रकार आप में सब दर्शनों की धाराएँ आकर मिल जाती हैं—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।"

प्रश्न होता है कि सातों नय [जिनमें सभी विचार-पद्धतियों का समावेश हो जाता है] भिन्न-भिन्न अभिप्राय वाले हैं, फिर वे सातों एकसाथ एक ही वस्तु में विवाद किये बिना कैसे रह सकते हैं ? उपाध्यायश्रीजी ने चक्रवर्ती का दृष्टान्त देकर इसे बड़े सुन्दर ढंग से समझाने की कोशिश की है। इसके अतिरिक्त विरोधी धर्म एक ही वस्तु में कैसे रह सकते हैं, इस प्रश्न का समाधान निम्नलिखित एक. लौकिक दृष्टान्त से अच्छी तरह हो जाता है—

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति बाजार के चौराहे पर खड़ा है। एक ओर से एक बालक ने आकर उसे कहा—"पिता जी !" दूसरी ओर से लाठी टेकता हुआ एक वृद्ध आकर बोला—"पुत्र !" तीसरी दिशा से एक प्रौढ़ व्यक्ति आकर बोल उठा—"भाई साहब !" चौथी दिशा से एक विद्यार्थी आ निकला

और हाथ जोड़कर बोला—"अध्यापक जी !" सारांश यह कि उसी एक व्यक्ति को कोई चचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा और कोई भानजा। सब आपस मे झगड़ते हैं—"यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, अध्यापक ही है, चचा ही है, मामा ही है, भानजा ही है।" अब बतलाइये फैसला कैसे हो ? उनका पारस्परिक संघर्ष कैसे मिटे ?

यहाँ पर हमें जैन-दर्शन के नयवाद को निर्णायक बनाना पड़ेगा। नयवाद पहले बालक से कहेगा—"हाँ, यह पिता भी है। पर, तुम्हारे लिए ही तो पिता है, क्योंकि तुम इसके पुत्र हो। और सारी दुनिया का तो यह पिता नहीं है।" बूढे से कहता है—"हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह समूचे संसार का पुत्र है ?" अभिप्राय यह है कि यह एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई भी है, विद्यार्थी की अपेक्षा से अध्यापक भी है। इसी तरह अपनी-अपनी अपेक्षा-दृष्टि से चचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सब है। एक ही व्यक्ति में अनेक विरोधी धर्म रह रहे हैं, पर भिन्न-भिन्न अपेक्षा से।

इस प्रकार 'नयवाद' पारस्परिक विरोध एवं संघर्ष को मिटाकर हमारी दृष्टि को विशाल बनाता

है, हमारी विचारधारा को पूर्णता की ओर ले जाता है, और कहता है कि अपनी-अपनी अपेक्षा से एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को अभिव्यक्त करने वाले सातों ही नय रह सकते हैं, पर अपनी-अपनी अपेक्षा या दृष्टि से। इसीलिए तो 'नयवाद' को 'अपेक्षावाद' भी कहते हैं।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक-भाष्य मे इसी प्रश्न को दूसरे ढंग से उठाया है। उन्होंने कहा है कि—"ये सब नय कभी एकत्रित नहीं हो सकते और यदि किसी तरह से एकत्रित हो भी जायँ, तो वे सम्यक नहीं बन सकते। कारण, वे अपनी-अपनी स्थिति में मिथ्या होने से समुदित अवस्था मे तो महामिथ्या बन जाएँगे। दूसरी बात और। यदि वे समुदित (एकत्रित) हो भी जायँ तो, वस्तु का ज्ञान नहीं करा सकते;क्योंकि जब वे अपनी अलग-अलग स्थिति मे वस्तु का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं करा सकते थे, तो परस्पर मिले हुए नय परस्पर विरोधी होने से शत्रु की भाँति बीच-बीच मे विवाद करने के कारण वस्तु का ज्ञान कैसे करा सकेंगे ? वे तो वस्तु का ज्ञान कराने मे और विघ्न डालने के लिए खड़े हो जाएँगे। अतः वे नय सम्यक्त्व भाव को प्राप्त करके जिन-शासन का रूप कैसे ले सकते हैं ?—

"न समेंति न य समेया, सम्मत्तं न वि य वत्थुणो गमया।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव॥
विशेषा०, २२६६

इस प्रश्न का समाधान भी उन्होंने स्पष्ट रीति से किया है। उनका कहना है कि—"परस्पर विरुद्ध होते हुए भी नय एकत्रित होते हैं और सम्यक्त्व-भाव को प्राप्त करते हैं। जैसे परस्पर विरोध रखने वाले नौकरों को न्यायदर्शी राजा उचित उपाय से उनका वैर-विरोध दूर करके उन्हें एकत्रित करता है, और उनसे मनचाहा काम लेता है। अथवा धन, धान्य, भूमि आदि के लिए झगड़ा करने वाले लोगों को कोई न्यायशील मध्यस्थ व्यक्ति उनके झगड़े के कारण को युक्ति द्वारा दूर करके उन्हें समुदित रूप में सन्मार्ग पर लगा देता है। उसी प्रकार परस्पर विरोधी नयों को न्यायाधीश के रूप जैनदर्शन भी उनके एकान्त निश्चय-रूप विरोध के कारण को दूर कर देता है, तो वे सम्यक—सच्चे बन जाते हैं—

"सव्वे समेंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती॥
विशेषा०, २२६७
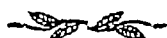
अन्तिम उपसंहार—

इत्थं नयार्थकवचःकुसुमैर्जिनेन्दु—
वीरोऽर्चितः सविनयं विनयाभिधेन।
श्रीद्वीपचन्दरवरे विजयादिदेव—
सूरीशितुर्विजयसिंहगुरोश्च तुष्ट्यै ॥२३॥

अर्थ

इस प्रकार विनयविजय ने, विजयदेव सूरि के शिष्य और अपने गुरु विजयसिंह के संतोष के लिये नय का अर्थ प्रतिपादन करने वाले वचन-रूपी पुष्पों से श्री वीर जिनेश्वर की विनयपूर्वक दीवबंदर में पूजा की।

विवेचन

इस अन्तिम उपसंहारात्मक श्लोक में ग्रन्थकार ने अपने प्रगुरु, गुरु तथा अपने नाम का उल्लेख किया है। 'नय-कर्णिका' के प्रणयन का गुरुतर कार्य पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा से ही सम्पन्न हुआ है और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए मेरा यह प्रयास है—प्रस्तुत श्लोक से उपाध्यायश्री जी का यह आन्तरिक विनय-भाव झलकता है। और इस

प्रयास के द्वारा उपाध्यायश्री जी ने भगवान् महावीर की पूजा की है।

पूजा का अर्थ सत्कार एव सम्मान करना मात्र है। और वह सत्कार-सम्मान एवं पूजा व्यक्तित्व के अनुसार किये जाने पर ही सच्चे एवं सार्थक हो सकते हैं। तीर्थंकरों का जीवन इतना निर्मल तथा स्वच्छ होता है कि पाप वहाँ आस-पास भी कभी नहीं झाँक पाता। अत' उस उच्च एवं निर्मल व्यक्तित्व के प्रति की गई हिंसाकारी एवं पापकारी पूजा कैसे सच्ची हो सकती है? इसीलिए ग्रन्थकार ने प्रभु की पूजा के लिए नयवचनरूपी ऐसे सुन्दर पुष्प चुने हैं, जिन का भगवान् ने स्वयं संसार को उपदेश दिया। अपने वतलाए हुए इन महकते हुए फलों से ही तो भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं। वाहर के ये प्राकृतिक पुष्प प्रभु को भला क्या प्रसन्न करेंगे? जिनकी सुगन्ध क्षणिक है, क्षण-भर में जो मुरझा जाने वाले हैं, और जिनकी पूजा में हिंसा की दुर्गन्ध आती है-ऐसे फूलों से क्या कभी सच्ची पूजा हो सकती है भगवान् की? इसी आशय से विनयविजय जी ने नय-वचन-रूपी ऐसे अमर पुष्प सजाये हैं भगवान् की पूजा के लिए, जो जीवन को महका देने वाले हैं, जीवन में से कलह, संघर्ष, विवाद की दुर्गन्ध को निकाल वाहर कर देने वाले हैं।

आज का भूला-भटका हुआ भगवान् का भक्त, यदि इन नयों के फूलों से प्रभु की पूजा करना सीख जाय, तो वैयक्तिक, परिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में से ईर्ष्या, कलह, वैमनस्य, विरोध, विवाद, संघर्ष एवं भय के कीटाणु सदा के लिए समाप्त हो जायँ और विश्व के मंच पर शान्ति तथा स्वस्थता का साम्राज्य स्थापित हो जाय।

❀ मूल-श्लोक ❀

वर्धमानं स्तुमः सर्वनयनद्यर्णवागमम् ।
संक्षेपतस्तदुन्नीत — नयभेदानुवादतः ॥ १ ॥
नैगमः संग्रहश्चैव, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ चेति नयाः स्मृताः ॥ २ ॥
अर्थाः सर्वेऽपि सामान्यविशेषोभयात्मकाः ।
सामान्यं तत्र जात्यादि, विशेषाश्च विभेदकाः ॥३॥
ऐक्यबुद्धिर्घटशते, भवेत्सामान्यधर्मतः ।
विशेषाच्च निजं निजं, लक्षयन्ति घटं जनाः ॥४॥
नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम् ।
निर्विशेषं न सामान्यं, विशेषोऽपि न तद्विना ॥५॥
संग्रहो मन्यते वस्तु, सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति, न विशेषः खपुष्पवत् ॥६॥
विना वनस्पतिं कोऽपि, निम्बाम्रादिर्न दृश्यते ।
हस्ताद्यन्तर्भाविन्यो हि, नांगुल्याद्यास्ततः पृथक् ॥७॥
विशेषात्मकमेवार्थं, व्यवहारश्च मन्यते ।
विशेषभिन्नं सामन्यमसत् खरविषाणवत् ॥८॥
वनस्पतिं गृहाणेति, प्रोक्तं गृह्णाति कोऽपि किम् ?
विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ॥९॥

व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने ।
उपयोगो विशेषैः स्यात्, सामान्ये न हि कर्हिचित् ॥१०॥
ऋजुसूत्रनयो वस्तु, नातीतं नाप्यनागतम् ।
मन्यते केवलं किन्तु, वर्तमानं तथा निजम् ॥११॥
अतीतेनाऽनागतेन, परकीयेन वस्तुना ।
न कार्यसिद्धिरित्येतदसद् गगनपद्मवत् ॥ १२ ॥
नामादिषु चतुर्ष्वेषु, भावमेव च मन्यते ।
न नामस्थापनाद्रव्याण्येवमग्रेतना अपि ॥१३॥
अर्थं शब्दनयोऽनेकैः, पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुम्भकलशघटाद्येकार्थवाचकाः ॥१४॥
ब्रूते समभिरूढोऽर्थं, भिन्नपर्यायभेदतः ।
भिन्नार्थाः कुम्भकलशघटा घटपटादिवत् ॥१५॥
यदि पर्यायभेदेऽपि, न भेदो वस्तुनो भवेत् ।
भिन्नपर्याययोर्न स्यात्, स कुम्भपटयोरपि ॥१६॥
एक पर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते ।
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवंभूतनयो ध्रुवम् ॥१७॥
यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत् ।
तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ॥१८॥
यथोत्तरं विशुद्धाःस्यु, र्नयाः सप्ताप्यमी तथा ।
एकैकः स्याच्छतं भेदास्ततः सप्तशतान्यमी ॥१९॥
अथैवंभूतसमभिरूढयोः शब्द एव चेत् ।

अन्तर्भावस्तदा पञ्च, नयाः पञ्चशतीभिदः ॥२०॥
द्रव्यास्तिक — पर्यायास्तिकयोरन्तर्भवन्त्यमी ।
आदावादिचतुष्टय—मन्त्ये चान्त्यास्त्रयस्ततः ॥२१॥
सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते,
सम्भूय साधु समयं भगवन् भजन्ते ।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम—
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक् ॥२२॥
इत्थं नयार्थकवचःकुसुमैर्जिनेन्दु—
र्वीरोऽर्चितः सविनयं विनयाभिधेन ।
श्रीद्वीपबन्दरवरे विजयादिदेव—
सूरीशितुर्विजयसिंहगुरोश्च तुष्ट्यै ॥२३॥

ज्ञान-पीठ के कुछ प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
श्रमण-सूत्र [सविवेचन]	उपाध्याय अमरमुनि जी	५।।)
आवश्यक-दिग्दर्शन	....	१।।)
जैनत्व की झाँकी	....	१)
जीवन के चलचित्र	....	२)
कल्याण-मन्दिर [सटीक]	....	।।)
भक्तामर-स्तोत्र [,,]	....	।-)
आदर्श-कन्या	....	।।।)
जैन कन्या शिक्षा [चार-भाग]	....	१-)
उपासक आनन्द	....	३)
महासती चन्दनबाला	शान्तिस्वरूप गौड़	३)
उज्ज्वल-वाणी [दूसरा भाग]	महासती उज्ज्वल कुमारीजी	२।)
श्रावक-धर्म	....	२)
काटों के राही	डा० इन्द्र, एम० ए०	१।।)
भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ	....	।-)
मंगल-वाणी	मुनि अखिलेशचन्द्र जी	१।।)
मंगल-पाठ	....	=)
सन्मति-महावीर	मुनि सुरेशचन्द्र जी	१।)
सन्मति-सन्देश	....	।।)
संगीत-माधुरी	....	।।)